धर्म क्या कहता है ? : ५

जैन धर्म क्या कहता है ?

•

श्रीकृष्णदत्त भट्ट

सर्व - सेवा - संघ - प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

प्रकाशक : मन्त्री, सर्व-सेवा-संघ,
राजघाट, वाराणसी-१
संस्करण : पहला
प्रतियाँ : ३,०००; दिसम्बर, १९६३
मुद्रक : बलदेवदास,
संसार प्रेस, काशीपुरा, वाराणसी
मूल्य : ५० नये पैसे

Title : JAIN DHARMA
KYA KAHATA HAI ?
Author : Shrikrishna Datta Bhatta
Subject : Religion
Publisher : Secretary,
Sarva Seva Sangh,
Rajghat, Varanasi
Edition : First
Copies : 3,000; December, '63
Price : 0 50 n. P.

प्र का श की य

किसी भी त्रस या स्थावर प्राणीको न सताओ–यह है भगवान् महावीरका संदेश।

जैन धर्ममें अहिंसापर सबसे अधिक जोर दिया गया है। तीर्थंकरोंने कहा है कि जीवनके हर क्षेत्रमें अहिंसाका पालन होना चाहिए।

जैन आचार्योंने अहिंसाके पालनके सूक्ष्मसे सूक्ष्म नियम बताये हैं। सबका उद्देश्य एक ही है कि प्राणीमात्रके प्रति प्रेम और करुणाका व्यवहार किया जाय और सत्यमय जीवन बिताया जाय।

हमारी 'धर्म क्या कहता है?' पुस्तक-मालाकी यह पाँचवीं पुस्तक है—'जैन धर्म क्या कहता है?'। इसके पहले वैदिक धर्मपर ३ पुस्तकें निकल चुकी हैं। बौद्ध, पारसी, यहूदी, ताओ, कनफ्यूश, ईसाई, इस्लाम और सिख धर्मपर भी पुस्तकें निकल रही हैं। सभीके मूलमें एक ही भावना है—सत्य, प्रेम और करुणा।

हम मानते हैं कि हमारी इस पुस्तक-मालाका सर्वत्र स्वागत होगा।

अ नु क्र म

मित्ती मे सव्व भूएसु।

'सब प्राणियोंसे मेरी मैत्री है।'—यह था भगवान् महावीर-का आदर्श।

अहिंसाके मूर्तिमान् प्रतीक थे वे।

त्याग और तपस्यासे ओतप्रोत था उनका [illegible]

परिग्रह एक लंगोटी तकका नहीं।

उनका जीवन, उनकी वाणी, उनके विचार युग-युगतक जनताका कल्याण करते रहेंगे।

हिंसा, पशुबलि, जातिपांतिके भेदभाव जिस युगमें बढ़ गये, उसी युगमें पैदा हुए महावीर और बुद्ध। इन्होंने इन [illegible] खिलाफ आवाज उठायी। दोनोंने अहिंसाका [illegible] विकास किया।

जन्म

कोई ढाई हजार साल पुरानी बात है। ईसासे ५९९ पहले वैशाली गणतंत्रके कुण्डग्राममें [illegible]

तेरसको महावीरका जन्म हुआ। वैशाली है बिहारके मुजफ्फरपुर जिलेका आजका बसाढ़ गाँव।

महावीरके पिताका नाम था सिद्धार्थ। यों लोग उन्हें 'सच्चंस'—श्रेयांस भी कहते थे और 'जसस'—यशस्वी भी। वे ज्ञातृ वंशके थे। गोत्र था कश्यप।

महावीरकी माँका नाम था त्रिशला। गोत्र था वशिष्ठ।

महावीरके बड़े भाईका नाम था नन्दिवर्धन। बहनका सुदं-सणा। माँ-बापकी तीसरी और अन्तिम सन्तान थे महावीर।

जन्म होनेके बाद माता-पिताने नाम रखा वर्धमान।

बचपन

वर्धमानका बचपन राजमहलमें बीता। वे बड़े निर्भीक थे। किसीसे डरते नहीं थे।

आठ बरसके हुए, तो उन्हें पढ़ाने, शिक्षा देने, धनुष आदि चलाना सिखानेके लिए शिल्पशालामें भेजा गया। वहाँ उन्होंने शिक्षा तो ली, पर उसमें उनका मन नहीं लगा। तब माता-पिताने उन्हें वहाँसे हटा लिया और कहा कि राजमहलमें अपनी इच्छाके अनुकूल रहो।

विवाह

श्वेताम्बर मान्यता है कि युवावस्थामें माता-पिताके कहनेसे वर्धमानने विवाह कर लिया था। उनकी पत्नीका नाम था यशोदा। एक बेटी भी उन्हें हुई थी, जिसका नाम था अणोज्जा—अनवद्या। राजपुत्र जमाली से उस बेटीका विवाह हुआ था।

दिगम्बर मान्यता है कि वर्धमानका विवाह हुआ ही नहीं था।

वैराग्य

राजकुमार वर्धमानमें अहिंसाकी भावना बचपनमें ही थी। उनके माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे, जो जैनधर्म के २३ वें तीर्थंकर थे और महावीरसे २५० वर्ष पूर्व हुए थे। वर्धमान सबसे प्रेमका व्यवहार करते थे। इस बातका पूरा ध्यान रखते थे कि उनके किसी कामसे किसीको कष्ट न पहुँचे। उन्हें इस बातका अनुभव हो गया कि इन्द्रियोंका, विषय-वासनाओंका सुख दूसरोंको दुःख पहुँचा करके ही पाया जा सकता है।

वैराग्यकी यह भावना दिन-दिन बढ़ती गयी।

माता-पिताके देहान्तके बाद तीस बरसकी भरी जवानीमें वे घर छोड़कर आत्म-साधनाके लिए बाहर निकल पड़े।

तपस्या

वर्धमान महावीरको योग-मार्ग अच्छा लगा। उन्होंने सोचा कि योगसे ही आत्मसिद्धि होगी। योगसे ही आत्मा-का दर्शन होगा। योगसे ही मुक्ति मिलेगी। निर्वाण प्राप्त होगा। इसलिए सभी भोग-लालसाएं छोड़कर वे योगकी साधनामें लग गये।

वे ऐसी जगह रहते, जहाँ कोई विरोध न करे। वे जहाँतक होता, ध्यानमें मग्न रहते। मौन रहते। हाथमें ही भोजन लेते। गृहस्थोंसे किसी चीजकी याचना न करते।

धीरे-धीरे उन्होंने योग-साधनामें अच्छी गति प्राप्त कर ली। बारह बरसकी साधनाके बाद अन्तमें उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

उपदेश

केवलज्ञान प्राप्त होनेके बाद भगवान् महावीरने जनताके कल्याणके लिए उपदेश देना शुरू किया। अर्धमागधी भाषामें वे उपदेश करने लगे, ताकि जनता उसे भली-भाँति समझ सके। तीस बरसतक उनकी धर्मदेशना होती रही।

भगवान् महावीरने अपने प्रवचनोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहपर सबसे अधिक जोर दिया। त्याग और संयम, प्रेम और करुणा, शील और सदाचार ही उनके प्रवचनोंका सार था।

संघकी स्थापना

भगवान् महावीरने श्रमण और श्रमणी, श्रमणोपासक और श्रमणोपासिका सबको लेकर चतुर्विध संघकी स्थापना की। कहा, जो जिस अधिकारका हो, वह उसी वर्गमें आकर सम्यक्त्व पानेके लिए आगे बढ़े। जीवनका लक्ष्य है समता पाना।

निर्वाण

धीरे-धीरे संघ उन्नति प्राप्त करने लगा। देशके भिन्न-भिन्न भागोंमें घूमकर भगवान् महावीरने अपना पवित्र संदेश फैलाया।

तीस वर्षतक उपदेश करनेके बाद जैन धर्मके अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरने ईसापूर्व ५२७ में अपापापुरीमें कार्तिक (आश्विन) कृष्ण अमावास्याको निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् महावीरके निर्वाण-दिवसपर घर-घर दीपक जलाकर हम दीपावली मनाते हैं।

हमारा कल्याण हो जाय, यदि हम भगवान् महावीरका यह छोटा-सा उपदेश ही सच्चे मनसे पालन कर लें कि संसारके सभी छोटे-बड़े जीव हमारी ही तरह हैं, हमारी आत्माका ही स्वरूप हैं :

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे
ते आत्तओ पासइ सव्वलोए ॥

卐 जैन परम्परा के अनुसार जैन धर्म अनादिकालीन शाश्वत हैं। प्रत्येक कालचक्रार्ध में २४ तीर्थंकर होते हैं। इस प्रकार आज अनन्त चउवीसी हो चुकी। इनमें से वर्तमान कालचक्रार्ध के २४ तीर्थंकर के नाम तथा उनके चिन्ह इस प्रकार हैं :—

卐 जैन धर्म

नमस्कार मंत्र

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

अरिहंतोंको नमस्कार ।
सिद्धोंको नमस्कार ।
आचार्योंको नमस्कार ।
उपाध्यायोंको नमस्कार ।
सर्व साधुओंको नमस्कार ।

अरिहंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और सर्वसाधुओंको नमस्कार । ये पाँच परमेष्ठी हैं ।

यह मंत्र जैनधर्मका परम पवित्र और अनादिनिधन मंत्र माना जाता है ।

जैनधर्म है, 'जिन' भगवान्‌का धर्म ।

'जैन' शब्द

'जैन' कहते हैं उन्हें, जो 'जिन'के अनुयायी हों । 'जिन' शब्द बना है 'जि' धातुसे । 'जि' माने जीतना । 'जिन' माने

वैदिक धर्ममें राम, कृष्ण आदि अवतारोंको जैसा आदर दिया जाता है, वैसा ही जैन धर्ममें इन तीर्थंकरोंको आदर दिया जाता है। तीर्थंकर 'अवतार' नही हैं।

जैन सम्प्रदाय

जैन धर्म माननेवालोंके मुख्य रूपसे दो सम्प्रदाय हैं : दिगम्बर और श्वेताम्बर।

दिगम्बर वह, जो कोई कपडा नही पहनता। दिग् माने दिशा। दिशा ही अम्बर है जिसका, वह दिगम्बर। इस सम्प्रदायवाले श्रमण कोई कपडा नही पहनते। नग्न रहते हैं। वेदोंमे भी इन्हे 'वातरशना' कहा है।

श्वेताम्बर वह, जो सफेद कपड़े पहनता है। इस सम्प्रदायवाले श्रमण सफेद वस्त्र धारण करते हैं।

~~कोई २०० साल पहले श्वेताम्बरोमेंसे ही एक शाखा और निकली 'स्थानकवासी'। ये लोग मूर्तियोंको नही पूजते।~~

तेरहपंथी, बीसपंथी, तारणपंथी, यापनीय आदि कुछ और भी उप-शाखाएं हैं।

इन सबमे आचार, पूजा-पद्धति आदिको लेकर थोड़ा-बहुत भेद है, पर भगवान् महावीरमे, अहिंसा, संयम और अनेकांतवादमें सबका समान विश्वास है।

धर्मशास्त्र

भगवान् महावीरने उपदेश ही दिया। उन्होंने कोई ग्रंथ नही रचा। बादमें उनके गणधरोंने–प्रमुख शिष्योंने–अपने गुरुके

X इस सम्प्रदाय के मुख्य रूपसे तीन उपसम्प्रदाय हैं। — १. मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, ३. तेरापंथ। अन्तिम दो उपसम्प्रदायवाले लोग मूर्तियों को नहीं पूजते।

श्वेताम्बर इन ग्रन्थोंको मानते हैं, दिगम्बर नही। उनका कहना है कि सारा प्राचीन साहित्य लुप्तहो गया।

पुराण

जैन-परम्परामें ६३ शलाका-महापुरुष माने गये हैं। पुराणोंमें इनकी कथाएं तथा धर्मका वर्णन आदि है। पुराणोंकी संख्या बहुत है। दोनों संप्रदायके आचार्योंने पुराणोंकी रचना की है।

मुख्य पुराण ये हैं: जिनसेनका 'आदिपुराण' और जिनसेन (द्वि०) का 'अरिष्टनेमि' (हरिवंश) पुराण, २. रविषेणका 'पद्मपुराण' और गुणभद्रका 'उत्तरपुराण' प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओंमे भी अनेक पुराण हैं।

दिगम्बर साहित्य

दिगम्बर षट्खण्डागमको प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं। षट् प्राभृत, अष्ट प्राभृत, मूलाचार, त्रिवर्णाचार, समयसार प्राभृत, प्राभृतसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, रयणसार, द्वादशानुप्रेक्षा, आप्तमीमांसा, रत्नकरण्डश्रावकाचार, तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि आदि अनेक धर्मग्रंथोंको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं।

आचार्य

कुन्दकुन्द, कार्तिकेय, उमास्वाति, समन्तभद्र, पूज्यपाद, वट्टकेर, सिद्धसेन दिवाकर, अकलंकदेव, हरिभद्र, अभयदेव, जिनभद्रगणि, विनयविजय, आनन्दघन, स्वामी विद्यानन्दि, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, अमृतचन्द्र अमितगति, हेमचन्द्र, यशोविजय, वसुनंदि, भीखणजी आदि अनेक आचार्योंने भी अनेक धर्मग्रंथ लिखे हैं।

* आचार्य हेमचन्द्र रचित "त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित" महाकाव्य (३६००० श्लोक प्रमाण) भी बृहदाकार में पौराणिक सामग्री का खजाना है।

उनका भी आदर किया जाता है। लगभग दो हजार वर्षकी आचार्य-परम्परामें जैन-आचार्योंने विपुल साहित्यका निर्माण किया है।

जैनदर्शन

जैनधर्ममें संसारको, जगत्‌को अनादि-अनन्त माना जाता है। जैनी मानते हैं कि इस जगत्‌का बनानेवाला कोई नहीं। वे 'जिन' या 'अर्हत'को ही परमात्मा मानते हैं और यह भी कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा हो सकता है। ईश्वर नामकी कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो सृष्टिका संचालन करे। छह द्रव्य-सिद्धान्तके अनुसार सृष्टि अनादि-निधन है।

अनेकांत

जैनदर्शनका सबसे ऊंचा सिद्धान्त है, अनेकान्त। 'अनेकान्त' कहते हैं, एक चीजका अनेक धर्मात्मक होना। भिन्न-भिन्न दृष्टिसे जब हम देखते हैं, तो एक ही चीज अनेक धर्मात्मक दिखाई पड़ती है। एक दृष्टिसे एक चीज सत् मानी जा सकती है, दूसरी दृष्टिसे वही असत्। अनेकान्तमें समस्त विरोधोंका समन्वय हो जाता है।

जैसे, देवदत्त किसीका बेटा है तो किसीका बाप। किसीका भाई है तो किसीका भतीजा। किसीका मित्र है तो किसीका शत्रु। एक ही देवदत्तके अनेक रूप हैं। कोई उसे किसी रूपमें देखता है, कोई किसी रूपमें। इसलिए उसका कोई एक ही रूप सही है, ऐसा कहना ठीक नहीं

जो आदमी इस बातको जानता है कि हर चीज नित्य है, वह जीवन और मृत्युमें सम रहता है।

जो आदमी इस बातको जानता है कि हर चीज नित्य ही नहीं, अनित्य भी है, वह उसके संयोग और वियोगमें सम रहता है।

जो आदमी इस बातको जानता है कि हर चीज सदृश है, वह किसी जीवसे घृणा नहीं करता।

जो आदमी इस बातको जानता है कि हर चीज सदृश ही नहीं, विसदृश भी है, वह किसीमें आसक्त नहीं होता।

तो, जो आदमी अनेकान्तको मानता है, सत्यको अनेक दृष्टिकोणोंसे देखता है, वह अपने किसी हठको लेकर नहीं बैठता। किसी बातपर अड़ता या झगड़ता नहीं। समभावसे रहता है। सुख और दुःख, लाभ और हानि, यश और अपयश, मान और अपमान, प्रशंसा और निन्दा सब उसके लिए बराबर है।

इसीका नाम है 'स्याद्वाद'। जैनियोंके मतसे इसका अर्थ है : 'सापेक्षता', 'किसी अपेक्षासे'। अपेक्षाके विचारसे कोई भी चीज सत् भी हो सकती है, असत् भी। इसीको 'सप्तभंगी नय' से समझाया जाता है।

अहिंसा

प्रत्येक धर्मके दो रूप होते हैं : १. विचार और २. आचार।

जैन धर्मके विचारोंका मूल है, अनेकान्त या स्याद्वाद और उसके आचारोंका मूल है, अहिंसा और तपस्या।

अहिंसा परमो धर्मः। जैन धर्ममें अहिंसाको सबसे ऊंचा स्थान दिया है। उसकी इतनी सूक्ष्म व्याख्या और विवेचना की गयी है कि उसका पूरा-पूरा पालन सबके लिए तो सम्भव है ही नहीं, बड़े-बड़े साधुओं और मुनियोंके लिए भी कठिन है।

मनुष्य तो मनुष्य, किसी भी त्रस या स्थावर जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। हम उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते-जागते, खाते-पीते, बोलते-चालते असंख्य जीवोंकी हिंसा करते रहते हैं।

इस हिंसासे हमें भरसक बचना चाहिए। मुनियोंके लिए अहिंसा-की व्याख्या बहुत कड़ी है, गृहस्थोंके लिए उसमें कुछ हलकी।

अहिंसाका एक छोटा-सा उदाहरण है, रात्रिमें भोजन करनेकी मनाही। महावीर कहते हैं :

सन्ति मे सुहुमा पाणा तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो कहमेसणियं चरे॥

—ये त्रस अथवा स्थावर प्राणी इतने सूक्ष्म हैं कि रातमें आँखसे देखे नहीं जा सकते। इसलिए भोजनके लिए कैसे जाया जा सकता है ?

उदउल्लं बीयसंसत्तं पीणा निव्वडिया महिं।
दिया ताइं विवज्जेज्जा राओ तत्थ कहं चरे ?

—जमीनपर कहीं पानी पड़ा होता है, कहीं बीज बिखरे होते हैं। दिनमें भी बड़ी सावधानीसे ही उन्हें किसी तरह बचाया जा सकता है, पर रात्रिमें उन्हें कैसे बचा सकते हैं ?

जीवनमें अहिंसाका अधिक-से-अधिक पालन हो, तो यह निश्चय है कि प्राणीमात्रको अधिक-से-अधिक सुख मिलेगा। जैन-धर्म इसीपर सबसे अधिक जोर देता है।

तपस्या

जैन धर्ममें तपस्याका बहुत ऊँचा स्थान है। बाहरी तपस्यामें जैन-मुनियोंकी तुलना और किसीसे करना कठिन है। आन्तरिक तपपर भी बड़ा जोर दिया गया है। मुनियोंका तप बारह प्रकारका है।

गृहस्थधर्म है : पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।* इन सबमें शरीर, वाणी और कायाकी तपस्या ही तो है।

* इस सब में आदर्श गृहस्थ की आचार संहिता है। जिससे वह संयमपूर्ण और सादा जीवन बीता सके।

५. मलमूत्र, कफ आदि गन्दगीको ऐसी जगह छोड़ना कि किसी जीवकी विरोधना न हो, गंदगी न फैले, उत्सर्ग समिति है।

गुप्ति : गुप्ति माने गोपन करना, रक्षण करना। मन, वाणी और कायाको इस ढंगसे रखना कि दोष न होने पाये, पाप न लगने पाये। यह है गुप्ति।

गुप्ति तीन है : १. मनोगुप्ति, २. वाग्गुप्ति और ३. काय-गुप्ति। न मनमें हिंसा या कपट आदिके भाव रखे; न क्रोधभरी, अभिमान भरी वाणी बोले, न असत्य बोले और न किसीको मारने दौड़े, चोरी करे या और कोई पाप करे।

भावना : भावना माने मनमे भाव लाना। भावनाएँ चार हैं : १. मैत्री, २. प्रमोद, ३. कारुण्य और ४. माध्यस्थ्य।

मैत्री : सब प्राणियोंके प्रति मित्रताकी, प्रेमकी भावना करना। सबका अपराध क्षमा करना। किसीसे वैर न करना।

प्रमोद : अपनेसे जो बड़ा हो, उन्नत हो उसके साथ विनयका बर्ताव करना। उसकी सेवा-स्तुतिमें आनन्द मानना।

कारुण्य : दीन-दुखियोंके प्रति करुणाकी भावना करना। उन्हें सुख पहुँचाना।

माध्यस्थ्य : जो बिलकुल विपरीत वृत्ति वाला या विरोधी हो, उसके प्रति क्रोध आदि न कर, उपेक्षाका भाव बरतना।

तीन रत्न : जैन धर्ममे तीन रत्न माने गये हैं : १. सम्यक्-दर्शन, २. सम्यक्ज्ञान और ३. सम्यक्चारित्र।

* उदासीनता का

१. सम्यक् दर्शन : सम्यक्‌दर्शन है, सच्चा सिद्धान्त देखना, 'जिनने' जिन सिद्धान्तका उपदेश दिया है, उसे मानना। उसमें श्रद्धा रखना। सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धा अथवा सात तत्त्वोंकी श्रद्धा।

२. सम्यक्‌ज्ञान : सम्यक्त्वपूर्वक होनेवाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है जिससे वस्तुका सच्चा ज्ञान हो।

सम्यक् चारित्र : भला व्यवहार। सम्यक् दर्शन हो, सम्यग् ज्ञान हो, पर चारित्र न हो, तो उसका क्या लाभ? सम्यक् चारित्र ही सबकी आधारशिला है।

जैनधर्ममें रत्न त्रयकी बड़ी महिमा है। तीनों एक साथ ही होते हैं। तीनों मिलकर ही मोक्षका मार्ग कहलाते हैं।

सात तत्त्व

जैनधर्ममें सात तत्त्व माने गये हैं : १. जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४. बन्ध, ५. संवर, ६. निर्जरा और ७. मोक्ष।

जीव : वे, जिनमें चेतना हो। जैसे, वनस्पति, पशु, पक्षी, मनुष्य।

अजीव : जिनमें चेतना न हो। जैसे, लकड़ी, पत्थर।

आस्रव : बंधनका जो कारण हो। आ + स्रव = आस्रव। आत्मातक ओर कर्मोंका बहना। विषयभोग इन्द्रियरूपी द्वारसे आत्मामें घुसते हैं और उसे बिगाड़ते हैं। इनमें कषाय मुख्य हैं। आत्माको जो कसे, दुःख दे, मलिन करे सो कषाय। ये कषाय चार हैं : १. क्रोध, २. मान-अभिमान, ३. माया-कपट और ४. लोभ।

बंध : जीव के साथ कर्मका बंध जाना। जैसे, दूध और पानी दोनोंकी असली हालत बदल जाती है।

संवर : आस्रवको रोकना, कर्मोंको न आने देना।

निर्जरा : बंधे हुए कर्मोंका जीवसे अलग होना। निर्जरा दो तरह की होती है : १. अविपाक और २. सविपाक।

मोक्ष : सभी कर्म-बन्धनोंसे छूट जाना। सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रसे कर्मोंका बन्धन शिथिल होता है और जीवको छुटकारा मिलता है।

कुछ लोग पाप और पुण्यको लेकर नौ पदार्थ मानते हैं।

पुण्य हैं : अन्नदान, जलदान, स्थानदान, शैयादान, वस्त्र-दान, सद्भावदान, सद्वचनदान, सत्कार्यदान और प्रणाम।

पाप हैं अठारह : हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान—चुगली खाना, पर-परिवाद—दूसरेकी निंदा, रति-अरति—राग-द्वेष, मिथ्यादर्शन और शल्य—मर्मको छेदनेवाली बात।

कर्म-सिद्धान्त

जैन धर्ममें कर्म सिद्धान्तपर बहुत जोर दिया गया है। कर्म वह है जो आत्माका असली स्वभाव प्रकट न होने दे। उसे ढँक दे।

जैन धर्ममें ऐसा माना जाता है कि संसारके प्राणी जो दुःख भोग रहे हैं, उसका कारण है उनका अपना-अपना कर्म। इस कर्म-बन्धनसे मुक्त होना ही मोक्ष है। कर्मका जैन-सिद्धांतमे वह

अर्थ नहीं है जिसे कर्तव्य-कर्म कहा जाता है। 'कर्म' नामके परमाणु होते हैं जो आत्माकी तरफ निरंतर खिचते रहते हैं।

आत्माको जीतो

कर्म-बन्धनसे छुटकारा पानेके लिए एक ही उपाय है और वह यह कि रागद्वेषसे अतीत बनो, वितराग बनो। अहिंसा और अभय, त्याग और तपस्या, अस्तेय और अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और सदाचारसे ही आत्माको जीता जा सकता है। विषमता दूरकर समता प्राप्त की जा सकती है। तभी शांति मिलेगी और शांति ही तो है निर्वाण।

"संति निव्वाणमाहियं!"

धर्मका आचरण करो

: १ :

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥[1]

धर्म सबसे उत्तम मंगल है। धर्म है, अहिंसा, संयम और तप। जो धर्मात्मा है, जिसके मनमें सदा धर्म रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

पाणे य नाइवाएज्ज अदिन्नं पि य नायए।
साइयं न मुसं बूया एस धम्मे वुसीमओ ॥[2]

छोटे-बड़े किसी प्राणीको न मारना, बिना दी हुई चीज न लेना, विश्वासघातरूपी असत्य व्यवहार न करना, यही है आत्मनिग्रही लोगोंका धर्म। साधु लोग इसी धर्मका पालन करते हैं।

---

१. दशवै० १।१ । २. सूत्रकृत० १।८।१९ ।

अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होई ।[१]

बाहरी तप है : अनशन, ऊनोदरिका, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता ।

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं उस्सग्गो वि य अब्भिंतरो तवो होई ॥[२]

भीतरी तप है : प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य—देवगुरु और धर्मकी सेवा, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग–आत्मभावमें रमना ।

आठ प्रकारके कर्म : २ :

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥[३]

१. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराय—ये आठ कर्म हैं ।

ज्ञानावरणीय कर्म : वह कर्म, जिससे आत्माके ज्ञान-गुणपर पर्दा पड़ जाय । जैसे, सूर्यका बादलमें ढंक जाना ।

---

१. उत्तरा० ३०।८ । २. उत्तराध्य० ३३।२ । ३. उत्तरा० ३०।३० ।

दर्शनावरणीय कर्म : वह कर्म, जिसमे आत्माकी दर्शन-शक्तिपर पर्दा पड़ जाय। जैसे, चपरासी बड़े साहबसे मिलनेपर रोक लगा दे।

वेदनीय कर्म : वह कर्म, जिससे आत्माको साताका—सुखका और असाताका—दुःखका अनुभव हो। जैसे, गुड़भरा हँसिया—मीठा भी, काटनेवाला भी।

मोहनीय कर्म : वह कर्म, जिससे आत्माके श्रद्धा और चारित्र गुणोंपर पर्दा पड़ जाता है। जैसे, शराब पीकर मनुष्य नहीं समझ पाता कि वह क्या कर रहा है।

आयु कर्म : वह कर्म, जिससे आत्माको एक शरीरमें नियत समयतक रहना पड़े। जैसे, कैदीको जेलमें।

नाम कर्म : वह कर्म, जिससे आत्मा मूर्त होकर शुभ और अशुभ शरीर धारण करे। जैसे, चित्रकारकी रंगबिरंगी तस्वीरें।

गोत्र कर्म : वह कर्म, जिससे आत्माको ऊँची-नीची अवस्था मिले। जैसे, कुम्हारके छोटे-बड़े बर्तन।

अन्तराय कर्म : वह कर्म जिससे आत्माकी लब्धिमें विघ्न पड़े। जैसे, राजाका भण्डारी। बिना उसकी मर्जीके राजाकी आज्ञासे भी काम नहीं बनता।

कर्मोंका फल पाना होगा : ३ :

जमियं जगई पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो।
सममेव कडेहिं गाहई, णो तस्सा मुच्चेज्जऽपुट्ठय॥[1]

इस धरतीपर जितने भी प्राणी हैं, वे सब अपने-अपने संचित कर्मोंके कारण ही संसारमें चक्कर लगाया करते हैं। अपने किये कर्मोंके अनुसार वे भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेते हैं। किये हुए कर्मोंका फल भोगे बिना प्राणीका छुटकारा नहीं होता।

जह मिट्टलेयालित्तं गरुयं तुंबं अहो वयइ एवं।
आसव-कय-कम्म-गुरु, जीवा वयंति अहरगइं॥
तं चेव तव्विमुक्कं जलोवरिं ठाइ जायलहुभावं।
जह तह कम्मविमुक्का लोयग्गपइट्ठिया होंति॥[2]

जिस तरह तुम्बी पर मिट्टीकी तहें जमानेसे वह भारी हो जाती है और डूबने लगती है, ठीक उसी तरह हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार तथा मूर्छा, मोह आदि आस्रवरूप कर्म करनेसे आत्मापर कर्मरूप मिट्टीकी तहें जम जाती हैं और वह भारी बनकर अधोगतिको प्राप्त हो जाती है।

---

१. सूत्र कृतांग,१-२ १-४। २. ज्ञाता सूत्र, ६।

यदि तुंबीके ऊपरकी मिट्टीकी तहें हटा दी जायं तो वह हल्की होनेके कारण पानी पर आ जाती है और तैरने लगती

है। वैसे ही यह आत्मा भी जब कर्म-बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त हो जाती है, तब ऊपरकी गति प्राप्त करके लोकाग्र भागपर पहुंच जाती है और वहां स्थिर हो जाती है।

आत्मासे आत्माको जीतो : ४ :

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेह ए॥[1]

हे पुरुष, तू आत्माके साथ ही युद्ध कर। बाहरी शत्रुओंके साथ किसलिए लड़ता है? आत्माके द्वारा ही आत्माको जीतनेसे सच्चा सुख मिलता है।

१. उत्तराध्य० ९।३५

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुक्खाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय—सुपट्ठिओ ॥[1]

आत्मा स्वयं ही दुःख तथा सुखोंको उत्पन्न तथा नाश करनेवाली है। सन्मार्गपर चलनेवाली सदाचारी आत्मा मित्र रूप है, जब कि कुमार्गपर चलनेवाली दुराचारी आत्मा शत्रु ।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥[2]

पुरुष दुर्जय संग्राममें दस लाख शत्रुओंपर विजय प्राप्त करे, उसकी अपेक्षा तो वह अपनी आत्मा पर ही विजय प्राप्त कर ले, यही श्रेष्ठ विजय है।

कषायोंको छोड़ो　　: ५ :

कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ इच्छन्तो हियमप्पणो ॥[3]

जो आदमी अपना भला चाहता है, उसे पाप बढ़ाने वाले इन चार दोषोंको सदाके लिए छोड़ देना चाहिए : क्रोध, मान, माया और लोभ।

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे ।
मायं च अज्जवभावेण लोहं संतोसओ जिणे ॥[4]

---

१. उत्तराध्य० २०।३७। २. वही, ९।३४। ३. दशवै० ८।३७। ४. दशवै० ८।३९।

क्रोधको शांतिसे जीतो, मानको नम्रतासे जीतो, मायाको सरलतासे जीतो, लोभको संतोषसे जीतो।

अहे वयन्ति कोहेणं माणेण अहमा गई।
माया गई पडिग्घाओ लोहाओ दुहुओ भयं ॥[1]

क्रोधसे मनुष्य नीचे गिरता है। अभिमानसे अधम गतिको पाता है। मायासे सद्गतिका नाश होता है। लोभसे इस लोकमे भी भय रहता है, परलोकमें भी।

कोहो य माणो य अणिग्गहीया माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स॥[2]

काबूमें न लाया गया क्रोध और अभिमान, बढ़ती हुई माया और लोभ ये चारों नीच कषाय पुनर्जन्मरूपी संसार वृक्षकी जड़ोंको बराबर सींचते रहते हैं।

कषायोंके भेद

सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं।[3]

कषाय मोहनीय कर्मके सोलह प्रकार हैं। कषाय चार हैं—१. क्रोध, २. मान, ३. माया और ४. लोभ। हरएकके चार-चार भेद हैं।

क्रोधके भेद

१. अनन्तानुबन्धी क्रोध : पर्वतमें पड़ी दरार जैसे जुड़ती नहीं, वैसे ही ऐसा क्रोध जीवनभर शान्त नहीं होता। (बेहद क्रोध)

---

१. उत्तरा० ९।५४। २. दशवै० ८।४०। ३. उत्तरा० ३३।११।

२. अप्रत्याख्यानी क्रोध : पृथ्वीमें पड़ी दरार जैसे वर्षा आनेपर पट जाती है, वैसे ही ऐसा क्रोध एक-आध सालमें शान्त हो जाता है। (बहुत क्रोध)

३. प्रत्याख्यानी क्रोध : रेतमें खींची रेखा जैसे वायुके झोंकेसे
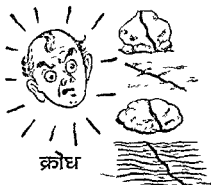
मिट जाती है, वैसेही ऐसा क्रोध एक-आध मासमें शान्त हो जाता है। (मामूली क्रोध)

४. संज्वलन क्रोध : पानीमे खींची रेखा जैसे शीघ्र नष्ट हो जाती है, वैसे ही ऐसा क्रोध जल्दी शान्त हो जाता है। (मीठा क्रोध)

मानके भेद

५. अनन्तानुबन्धी मान : पत्थरके खम्भेके समान, जो किसी प्रकार झुकता ही नहीं।

६. अप्रत्याख्यानी मान : हड्डीके समान, जो बड़ी कठिनाईसे

झुकता है।

७. प्रत्याख्यानी मान : काठके समान, जो उपाय करनेपर झुकता है।

८. संज्वलन मान : बेंतकी लकड़ीके समान, जो आसानीसे झुक जाता है।

मायाके भेद

९. अनन्तानुबन्धी माया : बाँसकी कठोर जड़ जैसी, जो किसी तरह टेढ़ापन नहीं छोड़ती।

१०. अप्रत्याख्यानी माया : मेंढ़ेके सींग जैसी, जो बड़े प्रयत्नसे अपना टेढ़ापन छोड़ती है।

११. प्रत्याख्यानी माया : बैलके मूत्रकी धार जैसी, जो वायुके झोंकेसे मिट जाती है।

१२. संज्वलन माया : बांसकी चोपटके समान ।

लोभके भेद
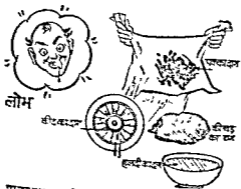
१३. अनन्तानुबन्धी लोभ: किरमिचके रंग जैसा दाग, जो एक बार चढ़नेपर उतरता नही । (बेहद लालच) ।

१४. अप्रत्याख्यानी लोभ : गाड़ीके कीट जैसा दाग, जो

एकबार कपड़ेको गन्दा कर देनेपर बड़े प्रयत्नसे मिटता है। (बहुत लालच) ।

१५. प्रत्याख्यानी लोभ : कीचड़ जैसा दाग, जो कपड़ोंपर पड़ जानेपर साधारण प्रयत्नसे छूट जाता है। (मामूली लालच)

१६. संज्वलन लोभ: हल्दीके रंग जैसा दाग, जो सूर्यकी धूप लगते ही दूर हो जाता है। (मीठा लालच) ।

किसीकी हिंसा मत करो : ६ :

जावन्ति लोए पाणा तसा अदुवा थावरा ।
ते जाणमजाणं वा न हणे नो विघायए ॥[1]

इस लोकमें जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं, उनकी न तो जानमें हिंसा करो, न अनजानमें। दूसरोंसे भी किसीकी हिंसा नहीं कराओ।

स्थावर जीव होते हैं एक इन्द्रियवाले, स्पर्श-इन्द्रियवाले

१. दशवै० ६।१०

जीव। ये पैदा होते हैं, बढ़ते हैं, मरते हैं, पर अपने आप चल-फिर नही सकते। जैसे, पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति आदि।

त्रस जीव होते हैं दो, तीन, चार अथवा पांच इन्द्रियवाले जीव। ये जीव अपनी इच्छासे चल-फिर सकते हैं, डरते हैं, भागते हैं, खाना ढूंढते हैं।

दो इन्द्रियवाले जीवोंके दो इन्द्रियाँ होती हैं। एक स्पर्शन, दूसरी रसना। जैसे, केंचुआ, घोंघा, जोंक आदि।

तीन इन्द्रियवाले जीवोंके तीन इन्द्रियाँ होती हैं: स्पर्शन, रसना और घ्राण। ये छू सकते हैं, स्वाद ले सकते हैं, सूंघ सकते हैं। जैसे, चींटी, खटमल, जूं, घुन, दीमक आदि।

चार इन्द्रियवाले जीवोंके चार इन्द्रियाँ होती हैं: स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु। जैसे, मक्खी, मच्छर, भौंरा, बर्रै,

टिड्डी, बिच्छू आदि।

पाँच इन्द्रियवाले जीवोंके पाँच इन्द्रियाँ होती हैं : स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। जैसे, स्त्री, पुरुष, बालक, गाय, बैल, घोड़ा, हाथी, मगर मच्छ, साँप, चिड़िया आदि।

जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं मणसा वयसा कायसा चेव॥[1]

संसारमें जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं, उन्हें न तो शरीरसे दण्ड दो, न वचनसे दण्ड दो और न मनसे दण्ड दो।

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए॥[2]

सबके भीतर एक-ही आत्मा है, हमारी ही तरह सबको अपने प्राण प्यारे हैं, ऐसा मानकर डर और वैरसे छूटकर किसी प्राणीको हिंसा न करे।

सयं तिवायए पाणे अदुवाऽन्नेहिं घायए।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ वेरं वड्ढइ अप्पणो॥[3]

जो परिग्रही आदमी खुद हिंसा करता है, दूसरोंसे हिंसा करवाता है और दूसरोंकी हिंसाका अनुमोदन करता है, वह अपने लिए वैर ही बढाता है।

एयं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचन।
अहिंसा समयं चेव एयावन्तं वियाणिया॥[4]

---

१. उत्तरा० ८।१० । २. वही, ६।७ । ३. [illegible]
४. वही, १।११।१० ।

ज्ञानी होनेका सार यही है कि किसी भी प्राणीकी हिंसा न करो। अहिंसाका इतना ही ज्ञान काफी है। यही अहिंसाका विज्ञान है।

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्ख पडिकूला ।
अप्पियवहा पियजीविणो,
जीविउकामा सव्वेसि जीवियं पियं ॥[१]

सभी प्राणियोंको अपनी आयु प्यारी है। सबको सुख अच्छा लगता है, दुःख अच्छा नहीं लगता। हिंसा सभीको बुरी लगती है। जीना सबको प्यारा लगता है। सभी जीव जीवित रहना पसन्द करते हैं। सबको जीवन प्रिय है।

नाइवाइज्ज किंचण।[२]

किसी भी प्राणीकी हिंसा मत करो।

आयातुले पयासु।[३]

प्राणियोंके प्रति वैसा ही भाव रखो, जैसा अपनी आत्माके प्रति रखते हो।

तेसिं अच्छणजोएण निच्चं होयव्वयं सिया ।
मणसा कायवक्केण एवं हवइ संजए ॥[४]

सभी जीवोंके प्रति अहिंसक होकर रहना चाहिए। सच्चा संयमी वही है, जो मनसे, वचनसे और शरीरसे किसीकी हिंसा नहीं करता।

अजयं चरमाणो उ पाणभूयाइं हिंसइ ।
बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं ॥[५]

---

१. आचारांग १।२।३। २. वही १।२।४। ३. सूत्रकृत० १।११।३। ४. दशवै० ८।३। ५. वही, ४।१।

जो आदमी चलनेमें असावधानी बरतता है, बिना ठीकसे देखेभाले चलता है, वह त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसा करता है। ऐसा आदमी कर्मबन्धनमें फंसता है। उसका फल कड़ुआ होता है।

अजयं चरमाणो उ पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं ॥[1]

जो आदमी बैठनेमें असावधानी बरतता है, बिना ठीकसे देखेभाले बैठता है, वह त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसा करता है। ऐसा आदमी कर्मबन्धनमें फंसता है। उसका फल कड़ुआ होता है।

अजयं भुञ्जमाणो उ पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं ॥[2]

जो आदमी भोजन करनेमें असावधानी बरतता है, बिना ठीकसे देखे-भाले भोजन करता है, वह त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसा करता है। ऐसा आदमी कर्मबन्धनमें फंसता है। उसका फल कड़ुआ होता है।

अजयं भासमाणो उ पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं ॥[3]

---

१. दशवै० ४।३। २. वही, ४।५। ३. वही, ४।६।

जो आदमी बोलनेमें असावधानी बरतता है, वह त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसा करता है। ऐसा आदमी कर्मबन्धनमें फँसता है। उसका फल कड़ुआ होता है।

सव्वे अक्कन्तदुक्खा य अओ सव्वे न हिंसया ॥[1]

'दुःखसे सभी जीव घबराते हैं' ऐसा मानकर किसी भी जीवको कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए।

हितकारी सत्य बोलो : ७ :

पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि।
सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ ॥[2]

हे पुरुष ! तू सत्यको ही सच्चा तत्त्व समझ। जो बुद्धिमान् सत्यकी ही आज्ञामें रहता है, वह मृत्युको तैरकर पार कर जाता है।

निच्चकालऽप्पमत्तेणं मुसावायविवज्जणं।
भासियव्वं हियं सच्चं निच्चाऽऽउत्तेण दुक्करं ॥[3]

प्रमादमें पड़े बिना सदा असत्यका त्याग करे। सच बोले। हितकर बोले। सदा ऐसा सत्य बोलना कठिन होता है।

---

१. सूत्रकृत० १।११।९। २. आ० भु० १।३।३। ३. उत्तरा० १९।२६।

अप्पणट्ठा परट्ठा वा कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया नो वि अन्नं वयावए ॥[1]

न तो अपने लाभके लिए झूठ बोले, न दूसरेके लाभके लिए। न तो क्रोधमें पड़कर झूठ बोले, न भयमें पड़कर। दूसरोंको कष्ट पहुँचानेवाला असत्य न तो स्वयं बोले, न दूसरेसे बुलवावे।

तहेव फरुसा भासा गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो ॥[2]

सच बात भी यदि कड़वी हो, उससे किसीको दुःख पहुँचता हो, उससे प्राणियोंकी हिंसा होती हो, तो वह न बोलनी चाहिए। उससे पापका आगमन होता है।

तहेव काणं काणे त्ति पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगि त्ति तेणं चोरे त्ति नो वए ॥[3]

कानेको काना कहना, नपुंसकको नपुंसक कहना, रोगीको रोगी कहना, चोरको चोर कहना है तो सत्य, पर ऐसा कहना ठीक नहीं। इससे इन लोगोंको दुख होता है।

मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबन्धीणि महब्भयाणि ॥[4]

---

१. दशवै० ६।१२। २. वही, ७।११। ३. वही ७।१२।
४. दशवै० ९।३।७।

लोहेका कांटा चुभ जाय तो घड़ी दो घड़ी ही दुःख होता

है। वह आसानीसे निकाला जा सकता है। पर व्यंग्य वाण, अशुभ वाणीका कांटा तो हृदयमें एक बार चुभ जाय, तो फिर कभी निकाला ही नहीं जा सकता। वह बरसोंतक सालता रहता है। उससे वैरानुबन्ध होता है, भय पैदा होता है।

अपुच्छिओ न भासेज्जा भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा मायामोसं विवज्जए॥[१]

न तो बिना पूछे उत्तर दे। न दूसरोंके बीचमें बोले। न पीठ पीछे किसीकी निंदा करे। न बोलनेमें कपटभरे झूठे शब्दों-को काममें लाये।

---

१. दशवै० ८।४७।

चोरी तिनकेकी भी नहीं :८:

''अदत्तादाणं हरदहमरणभयकलुसतासणपर
मंतिमुज्झ लोभमूलं·······
अकित्ति करणं अणज्जं·····
साहुगरहणिज्जं पियजणमित्तजणभेद
विप्पीतिकारकं रागदोसबहुलं ॥[१]

अदत्तादान (चोरीका धन) दूसरोंके हृदयको जलानेवाला होता है। मरणभय, पाप, कष्ट और पराये धनकी लिप्साका कारण है और लोभकी जड़ है।

वह अपयश देनेवाला है। न करने लायक काम है। साधु लोग उसकी निंदा करते हैं। वह अपने प्रेमियों और मित्रोंके बीच भेद डालनेवाला है। तरह-तरहके राग-द्वेष बढ़ानेवाला है।

दंतसोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स गिण्हणा अवि दुक्करं॥[२]

मालिक न दे तो दाँत कुरेदनेकी सींक भी नहीं लेना। संयमीको केवल उतनी ही चीजें लेनी चाहिए, जो जरूरी हों और जिनमें किसी तरहका दोष न हो। ये दोनों बातें कठिन हैं।

चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि उग्गहंसि अजाइया॥

१. प्रश्न० ३।१। २. उत्तरा० १९।२८।

त अप्पणा न गिण्हंति नो वि गिण्हावए परं ।
अन्नं वा गिण्हमाणं वि नाणुजाणंति संजया ॥[१]

जो लोग संयमी हैं, वे मालिकसे बिना पूछे न तो कोई सचित्त चीज लेते हैं, न अचित्त । फिर वह चीज कम हो चाहे ज्यादा । दाँत कुरेदनेकी सींक ही क्यों न हो । वे न तो खुद अदत्त लेते हैं, न दूसरेसे लिवाते हैं और न किसी दूसरेको उसके लिए अनुमति ही देते हैं । X

रूवे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठि दोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं ॥[२]

मनोहररूप ग्रहण करनेवाला जीव कभी अघाता ही नही । उसकी आसक्ति बढ़ती ही जाती है । उसे कभी तृप्ति होती ही नही । इस अतृप्तिके दोषसे दुःखी होकर उसे दूसरेकी सुन्दर चीजोंका लोभ सताने लगता है और वह चोरी कर बैठता है ।

---

१. दशवै० ६।१४,१५। २. उत्तरा० ३२।२९।

X के द्वारा अदत्त लेने पर उसका अनुमोदन करते हैं ।

ब्रह्मचर्यकी तपस्या : ९ :

बंभचेर-उत्तमतव-नियम-णाण-दंसण-चरित्त-
सम्मत्त-विणयमूलं ।[1]

ब्रह्मचर्य उत्तम तपस्या, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संयम और विनयकी जड़ है।

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं ।[2]

तपस्यामें ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ तपस्या है।

इत्थिओ जे न सेवन्ति, आइमोक्खा हु ते जणा ॥[3]

स्त्रियोंसे जो पुरुष सम्बन्ध नहीं रखते, वे मोक्षमार्गकी ओर बढ़ते हैं।

ब्रह्मचर्यके दस उपाय : ब्रह्मचर्यकी रक्षाके दस उपाय हैं।

जं विवित्तमणाइण्णं रहियं थीजणेण य ।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा आलयं तु निसेवए ॥[4]

(१) ब्रह्मचारी ऐसी जगहमें रहे, जहाँ एकान्त हो, बस्ती कम हो, जहाँपर स्त्रियाँ न रहती हों।

मणपल्हायजणणी कामरागविवड्ढणी ।
बम्भचेररओ भिक्खू थीकहं तु विवज्जए ॥[5]

---

१. प्रश्न संवर द्वार ४।१ । २. सूत्रकृत १।६।२३ । ३. वही १।१५।९ । ४. उत्तरा० १६।१ । ५. वही १६।२ ।

(२) ब्रह्मचारीको स्त्रियों सम्बन्धी ऐसी सारी बातें छोड़ देनी चाहिए, जो चित्तमें आनन्द पैदा करती हों और विषय-वासनाको बढ़ाती हों।

> समं च संथवं थीहिं संकहं च अभिक्खणं ।
> बम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए ॥[१]

(३) ब्रह्मचारी ऐसे सभी प्रसंग टाले, जिनमें स्त्रियोंसे परिचय होता हो और बारबार बातचीत करनेका मौका आता हो।

> अंगपच्चंगसंठाणं चारुल्लवियपेहियं ।
> बम्भचेररओ थीणं चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥[२]

(४) ब्रह्मचारी स्त्रियोंके अंगोको, उनके हावभावों और कटाक्षोंको न देखे।

दीक्षा लेनेके बाद साध्वी राजीमती एक बार रैवतक पर्वतकी ओर जा रही थी। रास्तेमें पानी बरसनेसे उसके कपड़े भीग गये। पासमें एक अंधेरी गुफा थी। वहां एकान्त समझकर उसने अपने सारे कपड़े उतार दिये और सूखनेको फैला दिये।

अरिष्टनेमिके छोटे भाई रथनेमि दीक्षा लेकर उसी गुफामें ध्यान कर रहे थे। उन्होंने राजीमतीको नग्न अवस्थामें देखा तो उनका चित्त विचलित हो गया।

---

१. उत्तरा०१६।३। २. वही, १६।४।

राजीमती सकुचाकर अपने अंगोंको [illegible] [illegible] बैठ गयी।

रथनेमिको कामसे विचलित होते देखकर राजीमतीने उसे फटकारते हुए कहा :

> जइऽसि रूवेण वेसमणो ललिएण नलकूबरो।
> तहावि ते न इच्छामि जइऽसि सक्खं पुरंदरो॥

रूपमें भले ही तू वैश्रवणकी तरह हो, लीलामें नल-कूबरकी तरह, इन्द्रकी तरह हो, तो भी मैं तेरी इच्छा नहीं करती।

> पक्खंदे जलियं जोइं धूमकेउं दुरासयं।
> नेच्छन्ति वंतयं भोत्तुं कुले जाया अगंधणे॥

अगंधन कुलमें पैदा हुए सर्प जगमगाती आगमें जलकर मरना पसन्द करते हैं, पर एक बार जिस विषको कै कर देते हैं, उसे फिरसे पीना पसन्द नहीं करते।

> धिरत्थु तेऽजसोकामी जो तं जीवियकारणा ।
> वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥[1]

हे कामी! तू कै की हुई चीजको पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मर जाना अच्छा!

> जइ तं काहिसी भावं जा जा दिच्छसि नारिओ ।
> वायाविद्धो व्व हडो अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥[2]

जिन-जिन स्त्रियोंको तू देखे उन सबको यदि तू भोगनेकी इच्छा करेगा तो हवासे काँपनेवाले जड़ वृक्षकी तरह तू अस्थिर बन जायगा और अपने चित्तकी समाधिको खो बैठेगा।

राजीमतीने रथनेमिको इस तरह समझाते हुए कहा :

> इंदियाइं वसे काउं अप्पाणं उवसंहरे ।[3]

अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर। अपनी आत्माको जीत। विषयोंको छोड़। तभी तू सुखी होगा।

रथनेमिपर राजीमतीके शब्दोंका बड़ा असर हुआ। पवित्र उपदेशके शीतल जलसे उसकी वासना शान्त हो गयी। जैसे अंकुश से हाथी रास्तेपर आ जाता है, उसी तरह उसका मन स्थिर हो गया।

---

१. उत्तरा० २२।४२। २. वही, २२।४५। ३. वही, २२।४०।

चाहिए। इनसे वीर्यकी वृद्धि होती है, उत्तेजना होती है। जैसे दलके-दल पक्षी स्वादिष्ट फलोंवाले वृक्षकी ओर दौड़ते जाते हैं, उसी तरह वीर्यवाले पुरुषको कामवासना सताने लगती है।

> धम्मलद्धं मियं काले जत्तत्थं पणिहाणवं।
> नाइमत्तं तु भुंजेज्जा बम्भचेररओ सया ॥[1]

(८) ब्रह्मचारीको वही भोजन करना चाहिए, जो धर्मसे मिला हो। उसे परिमित भोजन करना चाहिए। समयपर करना चाहिए। संयमके निर्वाहके लिए जितना जरूरी हो उतना ही करना चाहिए। न कम, न ज्यादा।

> विभूसं परिवज्जेज्जा सरीरपरिमण्डणं।
> बम्भचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए ॥[2]

(९) ब्रह्मचारीको शरीरके शृंगारके लिए न तो गहने पहनने चाहिए और न शोभा या सजावटके लिए और कोई काम करना चाहिए।

> सद्दे रूवे य गंधे य रसे फासे तहेव य।
> पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए ॥[3]

(१०) ब्रह्मचारीको शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पांच तरहके कामगुणोंको सदाके लिए छोड़ देना चाहिए। जो शब्द, जो रूप, जो गंध, जो रस और जो स्पर्श मनमें काम-वासना भड़काते हैं, उन्हें बिलकुल त्याग दे।

---

१. उत्तरा० १६।८। २. वही, १६।९। ३. वही १६।१०।

जलकुंभे जहा उवज्जोई संवासे विदु विसीयइ ॥

आगके पास रहनेसे जैसे लाखका घड़ा पिघल जाता है

ही स्त्रीके सहवाससे विद्वानका मन

उसके

परोसती

का प्रेम

रमना

न कोई

गहने-

राजाके

ा उस

"

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तो महेसिणा (दशवै० ६।२०)
मुच्छा-ममत्व को परिग्रह कहा है। ऐसा महर्षि ज्ञान कहते हैं।

'सवत्थुवहिणा बुद्धा संरक्खणपरिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि नाऽऽयरंति ममाइयं ॥'[1]

ज्ञानी लोग कपड़ा, पात्र आदि किसी भी चीजमें ममता नहीं रखते । यहांतक कि शरीरमें भी नहीं ।

धणधन्नपेसवग्गेसु परिग्गह विवज्जणं ।
सव्वारंभ परिच्चाओ निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥[2]

धन-धान्य, नौकर-चाकर आदिके परिग्रहका त्याग करना चाहिए । सभी प्रकारकी प्रवृत्तियोंको छोड़ना और ममतासे रहित होकर रहना बड़ा कठिन है ।

दो मासा सोना

जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमासकयं कज्जं कोडीए वि न निट्ठियं ॥[3]

ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता है । 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई !' पहले केवल दो मासा सोनेकी जरूरत थी, बादमें वह बढ़ते-बढ़ते करोड़ों तक पहुंच गयी, फिर भी पूरी न पड़ी !

कोसांबीमें कपिल नामका एक ब्राह्मण था । पिता उसका राजपुरोहित था । वह मर गया तो बेटेके अपढ़ होनेसे राजाने दूसरे ब्राह्मणको राजपुरोहित बना दिया ।

इस बातसे कपिलकी मां बड़ी दुःखी हुई । यह देख कपिलने पढ़नेकी इच्छा प्रकट की । वह श्रावस्तीमें अपने पिताके एक

---

१. दशवै० ६।२१ । २ उत्तरा० १९।२९ । ३. वही, ८।१७ ।

मित्रके पास पढ़ने गया। शालिभद्र नामके सेठके यहाँ उसके भोजनका प्रबन्ध हो गया।

शालिभद्रकी एक दासी थी। वह रोज उसे खाना परोसती और खिलाती थी। धीरे-धीरे उस दासीसे कपिलका प्रेम हो गया।

एक दिन दासीने कपिलसे कहा : "इस प्रेमको स्थिर रखना चाहते हो तो धन पैदा करो।"

पर निरक्षर कपिल कहाँसे धन पैदा करे? एक दिन कोई उत्सव था। दासीने कपिलसे कहा : "सब सखियाँ नये-नये गहने-कपड़े पहन रही हैं, पर मेरे पास कुछ नहीं। तुम यहाँके राजाके पास क्यों नहीं चले जाते? वह रोज सवेरे दो मासा सोना उस याचकको देता है, जो सबसे पहले उसके पास पहुँचता है।"

कपिलको बात जँच गयी। जल्दी उठनेकी चिंतामें वह रातभर सो नहीं सका। आधीरातको ही वह उठकर चल पड़ा। समझा कि सवेरा हो गया।

राजाके चौकीदारने उसे चोर समझकर गिरफ्तार कर लिया और सवेरे राजाके सामने पेश किया।

बेचारे कपिलने आदिसे अंत तक अपनी कहानी कह सुनायी।

राजाको उसकी बातोंपर विश्वास जम गया। बोला : "हे ब्राह्मण देवता! तुम जो चाहे सो माँग लो। तुम जो माँगोगे सो मैं दूँगा।"

राजासे कितना सोना माँगा जाय, यह सोचनेके लिए वह राजाके बगीचेमें चला गया।

दो मासेसे क्या होगा, चार मासा माँगूं ? पर चार मासेसे क्या होगा ? दस माँगूं, सौ माँगूं, हजार माँगूं ?

हजार मासेसे भी क्या होगा ? लाख माँगूं ? करोड़ माँगूं ? पर करोड़से भी क्या मेरी संतुष्टि हो जायगी ?

तब राजा का पूरा राज्य ही क्यों न माँग लूं ?

कपिलने देखा कि यह तृष्णा तो कभी शान्त होनेवाली नहीं। चाहे करोड़ मासा सोना मिल जाय तब भी ! चाहे पूरा राज्य मिल जाय तब भी ! लोभका, तृष्णाका कहीं पार नहीं है।

छिः छिः, मैं भी कितना मूर्ख हूं। मुझे कुछ न चाहिए। मैं अब सब कुछ छोड़कर अपरिग्रही बनूंगा।

राजाके पास जाकर कपिलने कह दिया : "महाराज, तृष्णाका कोई अंत नहीं। आप मुझे दो मासा सोना दें चाहे करोड़ मासा, अपना राज्य ही क्यों न दे दें, तृष्णा कभी शान्त होनेवाली नहीं। मैं इस तृष्णाको ही छोड़ूँगा। मुझे कुछ न चाहिए।"

प्रमाद मत करो : ११ :

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी आयाणुरक्खी चरमप्पमत्ते ॥[१]

विवेक जल्दी ही नहीं मिलता। उसके लिए भारी साधना करनी पड़ेगी। साधकको कामभोग छोड़कर समभावसे संसारकी असलियतको समझकर आत्माको पापोंसे बचाना चाहिए और बिना प्रमादके सदा विचरना चाहिए।

इह इत्तरियम्मि आउए जीवियए बहु पच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरेकडं समयं गोयम ! मा पमायए ॥[२]

आयु थोड़ी है। बाधा-विघ्न बहुत हैं। पिछले संचित कर्मोंकी धूलको तू झटक दे। हे गौतम ! पलभरका भी प्रमाद मत कर।

अवले जह भारवाहए मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए समयं गोयम ! मा पमायए ॥[३]

---

१. उत्तरा० ४।१० । २. वही, १०।३ । ३. वही, १०।३३ ।

घुमावदार विषम मार्गको छोड़ । सीधे सरल मार्गपर चल । जो कमजोर भारवाहक विषम मार्गपर चलता है, उसे पछताना पड़ता है । वैसा पछतावा तुझे न करना पड़े, इसका ध्यान रख । हे गौतम ! प्रमाद मत कर ।

सच्चा ब्राह्मण : साधु और भिक्षु : १९ :

जयघोष नामका एक ब्राह्मण था । संसारसे उसे वैराग्य हो गया । वह मुनि बन गया ।

एक बार वह घूमते- घूमते काशी पहुंचा ।

यहाँ उन दिनों विजयघोष नामका ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था । जयघोष उसके यहाँ भिक्षाको गया तो वह बोला : "ऐ भिक्षु ! मैं तुझे भिक्षा नही देता । मैं तो उसी ब्राह्मणको भिक्षा दूंगा जो वेदका ज्ञाता हो, यज्ञको समझता हो, ज्योतिष-शास्त्रमें प्रवीण हो और धर्मको जानता हो ।"

जयघोषने पूछा : "अच्छा ब्राह्मण देवता, जरा यह तो बताओ कि सच्चा ब्राह्मण कौन है ? अपना और दूसरेका उद्धार करनेमें कौन समर्थ है ? वेदका, यज्ञका, धर्मका मुख क्या है ? उसका मूल तत्त्व क्या है ?"

विजयघोषके पास इसका उत्तर न था । उसने और दूसरे ब्राह्मणोंने जयघोषसे प्रार्थना की कि "महाराज, हम तो नहीं जानते, आप ही बताइये ।"

जयघोषने उन्हें इसका रहस्य समझाते हुए कहा :

तसपाणे वियाणेत्ता संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेण तं वयं बूम माहणं ॥[१]

जो इस बातको जानता है कि कौन प्राणी त्रस है, कौन स्थावर है और मन, वचन और कायासे किसीभी जीवकी हिंसा नहीं करता, उसीको हम ब्राह्मण कहते हैं।

कोहा वा जइ वा हासा लोहा वा जइ वा भया।
मुस न वयई जो उ तं वयं बूम माहणं ॥[२]

जो न तो गुस्सेमें आकर झूठ बोलता है, न हंसी-मजाकमें पड़कर; न लोभमें आकर झूठ बोलता है, न भयमें पड़कर; उसीको हम ब्राह्मण कहते हैं।

न वि मुंडिएण समणो न ओंकारेण बंमणो।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो ॥[३]

---

१. उत्तरा० २५।२३। २. वही, २५।२४। ३. वही २५।३१।

सिर मुंड़ा लेनेसे ही कोई श्रमण नहीं बन जाता। ओंकारका जप कर लेनेसे ही कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता। केवल जंगलमें जाकर बस जानेसे ही कोई मुनि नहीं बन जाता। वल्कल वस्त्र पहन लेनेसे ही कोई तपस्वी नहीं बन जाता।

समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण उ मुणी होइ तवेण होइ तावसो॥[1]

समता पालनेसे श्रमण बनता है। ब्रह्मचर्य पालनेसे ब्राह्मण। चिन्तन-मननसे, ज्ञानसे मुनि बनता है। तपस्या करनेसे तपस्वी!

सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी खंतिक्खमे संजयबंभयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो चरेज्ज भिक्खू सुसमाहिइन्दिए॥[2]

भिक्षु सब प्राणियोंपर दया करे। कठोर वचनोंको सहन करे। संयमी रहे। ब्रह्मचारी रहे। इन्द्रियोंको वशमें रखे। पापोंसे बचता हुआ विचरे।

---

१. उत्तरा० २५।३२। २. वही २१।१३।

खामेमि सव्वे जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ॥[1]

मैं सब जीवोंसे क्षमा चाहता हूं। मैं भी सब जीवोंको क्षमा करता हूं। सब जीवोंके प्रति मेरा मैत्रीभाव है। मेरा किसीसे वैर नहीं है।

सव्वस्स जीवरासिस्स भावओ धम्मनिहिअनिअचित्तो।
सव्वे खमावइत्ता खमामि सव्वस्स अहयं पि॥[2]

मैं सच्चे हृदयसे धर्ममें स्थिर हुआ हूं। सब जीवोंसे मैं सारे अपराधोंकी क्षमा मांगता हूं। सब जीवोंने मेरे प्रति जो अपराध किये हैं, उन्हें मैं क्षमा करता हूं।

जं जं मणेण बद्धं जं जं वायाए भासियं पावं।
जं जं काएण कयं मिच्छा मि दुक्कडं तस्स॥[3]

मैंने अपने मनमें जिन-जिन पापकी वृत्तियोंका संकल्प किया हो, वचनसे जो-जो पापवृत्तियां प्रकट की हों और शरीरसे जो-जो पापवृत्तियां की हों, मेरी वे सभी पापवृत्तियां विफल हों। मेरे पाप मिथ्या हों।

---

१. पंचप्रति० वंदित्तु सू० गा० ४९। २. वही, आयरिअ० ३।
३. वही, संथार० अन्तिम।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा है

उमास्वातिका रचा हुआ 'तत्त्वार्थसूत्र' सभी सम्प्रदायोंमें मान्य जैन धर्मका प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें जैन दर्शन, आचार और सिद्धान्तोंका सांगोपांग परिचय सूत्ररूपमें आ गया है। इसपर अनेक भाष्य और टीकाएं उपलब्ध हैं। भगवद्गीताकी तरह घर-घर में इसका पाठ होता है।

मनुष्य जीवनका अन्तिम उद्देश्यहै, मोक्ष प्राप्त करना। यह मोक्ष किस प्रकार मिले, उसके पानेके कौन-कौनसे उपाय हैं, इसीका इस ग्रन्थमें सूत्ररूपमें वर्णन है।

तत्त्वार्थसूत्र दस अध्यायोंमें बंटा है। पहले अध्यायमें ज्ञान-की मीमांसा है। दूसरे अध्यायसे पांचवें अध्यायतक ज्ञेयकी मीमांसा है। छठेसे दसवें अध्यायतक चारित्रकी।

तत्त्वार्थसूत्र मनुष्यमात्रके लिए उपयोगी है। आइये, हम इसकी हलकी-सी झांकी करें।

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयम-
तपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।[1]

उत्तम धर्मके दस अंग हैं :

१. क्षमा : सहनशीलता। क्रोधको पैदा न होने देना। क्रोध पैदा हो ही जाय तो अपने विवेकसे, नम्रतासे उसे विफल कर-देना। अपने भीतर क्रोधका कारण ढूंढ़ना, क्रोधसे होनेवाले अनर्थों-को सोचना, दूसरोंकी वेसमझीका खयाल न करना। क्षमाके गुणों-का चिन्तन करना।

२. मार्दव : चित्तमें मृदुताका होना, व्यवहारमें नम्रताका।

३. आर्जव : भाव की शुद्धता। जो सोचना सो कहना। जो कहना, सो करना।

४. शौच : मनमें किसी भी तरहका लोभ न रखना। आसक्ति न रखना। शरीरकी भी नहीं।

५. सत्य : यथार्थ बोलना। हितकारी बोलना। मीठा बोलना।

६. संयम : मन, वचन और शरीरको काबू में रखना।

७. तप : मलिन वृत्तियोंको दूर करनेके लिए जो कुछ करना पड़े, उसके लिए तपस्या करना।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९।६।

८. त्याग : पात्रको ज्ञान, अभय, आहार, औषधि आदि सद्वस्तु देना।

९. अकिंचनता : किसी भी चीजमें ममता न रखना। अपरिग्रह स्वीकारना।

१०. ब्रह्मचर्य : सद्गुणोंका अभ्यास और अपनेको पवित्र रखना।

मोक्षके साधन : २ :

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥[१]

मोक्षके ३ साधन हैं :

१. सम्यक्दर्शन : जिस गुणके विकाससे सत्यकी प्रतीति हो, या जिससे आत्मस्वरूपके प्रति श्रद्धा और अभिरुचि हो, उसका नाम है, सम्यक्दर्शन।

२. सम्यक्ज्ञान : नय और प्रमाणसे जीव आदि तत्त्वोंका सम्यक्दर्शन पूर्वक जो ज्ञान होता है, उसका नाम है सम्यक्ज्ञान।

३. सम्यक्चारित्र : सम्यक्ज्ञान पूर्वक जो चारित्र धारण किया जाता है, उसका नाम है सम्यक्चारित्र। आत्मस्वरूपमें स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। इसमें हिंसा आदि दोषोंका त्याग किया जाता है और अहिंसा आदि साधनोंका अनुष्ठान किया जाता है।

कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः।[२]

सभी कर्मोंके क्षय होनेका नाम है, मोक्ष।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र १।१। २. वही १०।३

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।[1]

हिंसासे, असत्यसे, चोरीसे, कुशीलसे और परिग्रहसे विरत होनेका नाम है, व्रत।

देशसर्वतोऽणुमहती।[2]

थोड़े अंशमें इनसे विरत होना है, अणुव्रत। सर्वांशमें इनसे विरत होना है, महाव्रत। गृहस्थ अणुव्रती होते हैं, मुनि महाव्रती।

व्रतोंके अतिचार

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्।[3]

व्रतों और शीलोंके पाँच-पाँच अतिचार हैं।

बन्धवधच्छविच्छेदातिभारारोपणाऽन्नपाननिरोधाः।[4]

अहिंसाव्रतके अतिचार हैं:

बन्ध : किसी भी प्राणीको उसके इष्टस्थानको जानेसे रोकना या बाँधना।

वध : डंडा या चाबुक आदिसे प्रहार करना।

छविच्छेद : कान, नाक, चमड़ी आदिको छेदना।

अतिभारका आरोपण : मनुष्य या पशु आदिपर उसकी शक्तिसे अधिक बोझ लादना।

अन्नपानका निरोध : किसीके खान-पानमें रुकावट डालना।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र ७।१। २. वही, ७।२। ३. वही, ७।१९।
४. वही, ७।२०

मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः ।[1]

सत्यव्रतके अतिचार हैं :

मिथ्योपदेश : सच्ची-झूठी बातें कहकर किसीको गलत रास्तेपर डाल देना ।

रहस्याभ्याख्यान : विनोदके लिए पति-पत्नीको या स्नेहियों को एक-दूसरेसे अलग कर देना । किसीके सामने दूसरेपर दोष लगाना ।

कूटलेखक्रिया : मुहर, हस्ताक्षर आदिके द्वारा झूठी लिखा-पढ़ी करना । खोटे सिक्के चलाना ।

न्यासापहार : कोई धरोहर रखकर भूल जाय तो उसे पूरा या अधूरा हड़प जाना ।

साकारमंत्रभेद : आपसकी प्रीति तोड़नेके लिए दूसरेकी चुगली खाना । किसीकी गुप्त बात प्रकट कर देना ।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपक व्यवहाराः ।[2]

अस्तेयव्रतके अतिचार हैं :

स्तेनप्रयोग : किसीको चोरीके लिए उकसाना, दूसरे आदमीके द्वारा उकसाना । चोरीके काममें सम्मति देना ।

स्तेन-आहृतादान : निजी प्रेरणाके बिना, निजी सम्मतिके बिना चोरीके मालको ले लेना ।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ७।२१ । २. वही, ७।२२ ।

विरुद्ध राज्यका अतिक्रम : राज्योंके आयात-निर्यातके नियमोंका, चीजोंपर लगी हुई कर-व्यवस्थाके नियमोंका उल्लंघन करना।

हीनाधिक मानोन्मान : नाप, बाट, तराजूमें कमी-बेशी करके पूरा माल न देना।

प्रतिरूपक व्यवहार : असलीके बदले नकली या बनावटी माल बेचना।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः।[1]

अपरिग्रहव्रतके अतिचार हैं[2] :

क्षेत्र और वास्तुके परिमाणका अतिक्रम : क्षेत्र माने खेती-लायक जमीन। वास्तु माने रहनेलायक मकान आदि। इनके जो परिमाण सोचा हो, लोभमें आकर उस सीमाको पारकर जाना।

हिरण्य और सुवर्णके परिमाणका अतिक्रम : सोने-चाँदीके परिमाणका व्रत लेते समय जो सीमा बनायी हो उसे पार कर जाना।

धन धान्यके परिमाणका अतिक्रम : गाय, भैंस, अन्न-धान्य रखनेके व्रतके समय जो सीमा बाँधी हो, उसे पार कर जाना।

दासीदासके परिमाणका अतिक्रम : दासी-दासको नौकर आदिके लिए व्रतके समय जो मर्यादा रखी हो, उसे पार कर जाना।

कुप्यके परिमाणका अतिक्रम : कपड़े, बर्तनों आदिके लिए व्रतके समय जो सीमा रखी हो, उसे पार कर जाना।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ७।२३। २. वही, ७।२८।

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।[1]

अनुग्रहके लिए अपनी वस्तुके त्याग करनेका नाम है दान।

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ।[2]

विधि, देयवस्तु, दाता और ग्राहककी विभेदतासे दानकी विशेषता है।

दानका मतलब है अपने पसीनेकी कमाई दूसरेको प्रेम-पूर्वक अर्पण करना।

दानके फलमें तरतमके भावसे विशेषता होती है। उसके चार अंग हैं :

विधिकी विशेषता : देश, कालका औचित्य रहे और लेने-वालेके सिद्धान्तमें कोई बाधा न आये, यह है विधिकी विशेषता।

द्रव्यकी विशेषता : दानकी वस्तु लेनेवालेके लिए उपकारी और हितकर हो, यह है द्रव्यकी विशेषता।

दाताकी विशेषता : दातामें दान लेनेवालेके प्रति श्रद्धा और प्रेम हो, प्रसन्नता हो, यह है दाताकी विशेषता।

पात्रकी विशेषता : दान लेनेवाला सत्पुरुषार्थके लिए जाग-रूक हो, यह है पात्र की विशेषता।

ऐसे दानसे दाताका भी कल्याण होता है, आदाताका भी।

१. तत्त्वार्थसूत्र ७।३३ या ३८। २. वही ७।३४ या ३९।

* दुल्लहा मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छंति सोग्गई ।

: ५ :

वही आत्मा : वही परमात्मा : १ :

सदाशिवः परब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च ।
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्थादेकमेवैवमादिभिः ॥[1]

सदाशिव, परब्रह्म, सिद्ध, आत्मा, तथागत आदि शब्दों द्वारा उस एक ही परमात्माका नाम लिया जाता है। शब्द-भेद होनेपर भी अर्थकी दृष्टिसे वह एक ही है।

सर्वान्देवान्नमस्यंति नैकं देवं समाश्रिताः ।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरंति ते ॥[2]

इंद्रियों तथा क्रोधपर विजय प्राप्त करनेवाले जो गृहस्थ किसी एक देवको आश्रित न कर सब देवोंको आदरपूर्वक नमस्कार करते हैं, वे संसाररूपी दुर्गोंको पार कर जाते हैं।

---

१. हरिभद्र : योगदृष्टि-समुच्चय २८ । २. हरिभद्र : योगबिन्दु ११८ ।

णिद्दंडो णिद्दंदो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥[१]

जो मन, वचन और कायाके दण्डोंसे रहित है, हर तरहके द्वंद्वसे, संघर्षसे मुक्त है, जिसे किसी चीजकी ममता नहीं, जो शरीररहित है, जो किसीके सहारे नहीं रहता है, जिसमें किसीके प्रति राग नहीं है, द्वेष नहीं है, जिसमें मूढ़ता नहीं है, भय नहीं है, वही है—मुक्त आत्मा।

णवि दुक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥[२]

जहाँ दुःख नहीं है, सुख (इन्द्रिय-सुख) नहीं है, पीड़ा नहीं है, बाधा नहीं है, मरण नहीं है, जन्म नहीं है, वहीं निर्वाण है।

णवि इंदियउवसग्गा णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥[२]

जहाँ इन्द्रियाँ नहीं हैं, उपसर्ग नहीं है, मोह नहीं है, आश्चर्य नहीं है, निद्रा नहीं है, प्यास नहीं है, भूख नहीं है, वहीं निर्वाण है।

---

१. कुंदकुंद : नियमसार ४३। २. वही १७९, १८०।

शील ही मुक्तिका साधन

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धीय णाणसुद्धीय।
सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं ॥[1]

शील ही विशुद्ध तप है। शील ही दर्शन-विशुद्धि है। शील ही ज्ञान शुद्धि है। शील ही विषयोंका शत्रु है। शील ही मोक्षकी सीढ़ी है।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे।
सम्मद्दंसणणाणे तओ य सीलस्स परिवारो ॥[2]

जीवोंपर दया करना, इन्द्रियोंको वशमें करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, संतोष धारण करना, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और तप—ये सब शीलके परिवार हैं।

सीयल मोटो सर्व वरत में, ते भाख्यो छै श्री भगवंत रे।
ज्यां समकित सहीत वरत पालीयो, त्यां कीयो संसारनों अंत रे ॥[3]

जिनेश्वर भगवान्‌ने कहा है कि शील सबसे बड़ा व्रत है। जिन्होंने सम्यक्त्वके साथ शील व्रतको पाला, उन्होंने संसारका अंत कर डाला।

---

१. कुंदकुंद : शील पाहुड २०। २. वही, १९। ३. भीखण : शीलकी नव बाड़, ढाल १।२।

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणु व्रतपंचकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥[१]

श्रावकके आठ मूल गुण हैं :

१. मद्यका, शराबका त्याग, २. मांसका त्याग, ३. मधुका त्याग, ४. हिंसाका त्याग, ५. असत्यका त्याग, ६. चोरीका त्याग, ७. कुशीलका, अब्रह्मचर्यका त्याग, ८. परिग्रहका त्याग ।

सात व्यसन छोड़ें

जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि-चोर-परयारं ।
दुग्गइ गमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥[२]

श्रवकोंको ये ७ व्यसन छोड़ देने चाहिए : १. जुआ, २. शराब, ३. मांस, ४. वेश्या, ५. शिकार, ६. चोरी और ७. परस्त्री सेवन । इन पापोंसे दुर्गति होती है ।

जुआ

ण गणेइ इट्ठमित्तं ण गुरुं ण य मायरं पियरं वा ।
जूवंधो वुज्जाइं कुणइ अकज्जाइं बहुयाइं ॥[३]

जुआ खेलनेसे जिस आदमीकी आँखें अंधी हो गयी हैं वह न इष्टमित्रोंको देखता है, न गुरुको । न वह मांका आदर करता है, न पिताका । वह बहुतसे पाप करता है ।

---

१. समन्तभद्र : श्रीरत्न करण्ड श्रावकाचार, ६६ । २. वसुनन्दि : श्रावकाचार, ५९ । ३. वही ६३ ।

अक्खेहि णरो रहिओ ण मुणइ सेसिंदएहिं वेएइ ।
जूयंधो ण य केण वि जाणइ संपुण्णकरणो वि ॥[1]

अंधा आदमी आँखोंसे तो नहीं देख पाता, पर दूसरी इन्द्रियोंसे तो देखता है। जुआरीकी तो पाँचों फूट जाती हैं। किसी इन्द्रियसे उसे कुछ नहीं दीखता।

शराब

मज्जेण णरो अवसो कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं ।
इहलोए परलोए अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ॥[2]

शराबके अधीन होकर मनुष्य तरह-तरहके निंदनीय कर्म करता है। उसे इस लोकमें भी अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं, परलोकमें भी।

जं किंचि तस्स दव्वं अजाणमाणस्स हिप्पइ परेहिं ।
लहिऊण किंचि सण्णं इदो तदो धावइ खलंतो ॥[3]

शराबीकी जेबमें जो कुछ रुपये-पैसे होते हैं, उसे दूसरे लोग ही छीन ले जाते हैं। होशमें आनेपर उन्हें पानेके लिए वह इधर-उधर मारा-मारा फिरा करता है।

मांस

मंसासणेण वड्ढइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ ।
जूयं पि रमइ तो तं पि वण्णिए पाउणइ दोसे ॥[4]

मांस खानेसे दर्प बढ़ता है, उन्माद बढ़ता है। मनुष्य शराब पीना चाहता है। फिर वह जुआ खेलना चाहता है। वह तमाम दोषोंमें फँस जाता है।

---

१. वसुनन्दि : श्रावकाचार ६६। २. वही, ७०। ३. वही, ७२। ४. वही, ८६।

वेश्या

रत्तं णाऊण णरं सव्वस्सं हरइ वंचणसएहिं ।
काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठिपरिसेसं ॥[1]

आदमीको अपनेमें आसक्त जानकर वेश्या सैकड़ों प्रकारसे उसे ठगकर उसका सब कुछ हर लेती है। वह उसे हड्डियोंका ढाँचा बनाकर छोड़ती है।

शिकार

णिच्चं पलायमाणो तिणचारी तह णिरवराहो वि ।
कह णिग्घणो हणिज्जइ आरण्णणिवासिणो वि मए ॥[2]

जो वनवासी हिरन बेचारे डरके मारे सदा इधर-उधर दौड़ते रहते हैं, तिनके चरते हैं, कोई अपराध नहीं करते, उन्हें दयाहीन मनुष्य कैसे मारता है ?

चोरी

परदव्वहरणसीलो इह-परलोए असायबहुलाओ ।
पाउणइ जायणाओ ण कयावि सुहं पलोएइ ॥[3]

जो आदमी पराया धन चुराता है, उसे इसलोकमें भी दुख भोगना पड़ता है, परलोकमें भी। उसे सुख कभी नहीं मिलता।

कुशील

दट्ठूण परकलत्तं णिब्बुद्धी जो करेइ अहिलासं ।
ण य किं पि तत्थ पावइ पावं एमेय अज्जेइ ॥[4]

पराई स्त्रीको देखकर जो मूर्ख उसकी इच्छा करता है, उसके पल्ले पाप ही पड़ता है, और कुछ नहीं।

१. वसुनन्दि: श्रावकाचार ८९। २. वही, ९६। ३. वही, १०१। ४. वही, ११२।

पढिएणवि किं कीरइ किंवा सुणिएण भावरहिएण ।
भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥[1]

भावसे रहित होकर पढ़नेसे क्या लाभ ? भावसे रहित होकर सुननेसे क्या लाभ ? चाहे गृहस्थ हो चाहे त्यागी, सभीका कारण भाव ही है।

बाहिरसंगचाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो ।
सयलो णाणज्झयणो निरत्थओ भावरहियाणं ॥[2]

जिसमें भावना नहीं है, ऐसा आदमी धन-धान्य आदि परिग्रहको छोड़ दे, गुफामें जाकर रहे, नदी तटपर जाकर रहे तो भी क्या ? उसका ज्ञान, उसका अध्ययन बेकार है।

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भन्तरगंथजुत्तस्स ॥[3]

भावको शुद्ध करनेके लिए बाहरी परिग्रहका त्याग किया जाता है, पर जिसने भीतरसे परिग्रहका त्याग कर रखा है, उसके लिए बाहरी परिग्रह छोड़नेका कोई अर्थ नहीं।

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य ।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ॥[4]

तुषसे उड़दकी दाल अलग है, इसी तरह शरीरसे आत्मा अलग है, ऐसा 'तुषमाष' रटते-रटते शिवभूति नामके भावविशुद्ध महात्माको शास्त्रज्ञान न रहनेपर भी 'केवलज्ञान' प्राप्त हो गया।

---

१. कुंदकुंद : भावपाहुड ६६ । २. वही ८९ ।
३. वही, ३ । ४. वही ५३

णासेदूण कसायं अग्गी णासदि सयं जधा पच्छा ।
णासेदूण तध णरं णिरासवो णस्सदे कोधो ॥[1]

जलानेलायक चीजोंको जिस तरह आग जलाकर खुद भी नष्ट हो जाती है, उसी तरह क्रोध मनुष्यको नष्ट करके खुद भी नष्ट हो जाता है ।

ण गुणे पेच्छदि अववददि गुणे जंपदि अजंपिदव्वं च ।
रोसेण रुद्दहिदओ णारयसीलो णरो होदि ॥[2]

क्रोध आनेपर मनुष्य जिस व्यक्तिपर क्रोध करता है, उसके गुणोंकी ओर ध्यान नहीं देता । वह उसके गुणोंकी निन्दा करने लगता है । जो न कहना चाहिए सो कह डालता है । क्रोधसे मनुष्यका हृदय रुद्ररूप धारण कर लेता है । वह मनुष्य होकर भी नारकी जैसा बन जाता है ।

सुट्ठु वि पियो मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण ।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ॥[3]

क्रोधके कारण मनुष्यका परम प्यारा प्रेमी भी पलभरमें उसका शत्रु बन जाता है । मनुष्यकी प्रसिद्धि भी उसके क्रोधके कारण नष्ट हो जाती है ।

---

१. शिवकोटी : भगवती आराधना १३६४ । २. वही, १३६६ । ३. वही, १३७० ।

ममताका त्याग करो : ७ :

अहं ममेति मंत्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत् ।
अयमेव हि नयपूर्वः प्रतिमंत्रोऽपि मोहजित् ॥[1]

मैं, मेरा इस मोहरूपी मंत्रने सारे संसारको अंधा बना रखा है, परंतु 'यह मेरा नहीं है'—यह वाक्य मोहको जीतनेका प्रतिमंत्र भी है।

दान देना आवश्यक : ८ :

आहारोसह-सत्थाभयभेओ जं चउव्विहं दाणं ।
तं वुच्चइ दायव्वं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥[2]

उपासकाध्ययनमें कहा है कि चार प्रकारके दान हैं : भोजन, औषधि, शास्त्र और अभय । ये दान अवश्य देने चाहिए।

अइवुड्ढ-बाल-मूयंध बहिर-देसंतरीय-रोडाणं ।
जहजोग्गं दायव्वं करुणादाणत्ति भणिऊण ॥[3]

बहुत बूढ़ा हो, बालक हो, गूंगा हो, अंधा हो, बहरा हो, परदेशी हो, दरिद्र हो,—'यह करुणादान है' ऐसा मानकर उसे यथायोग्य दान देना चाहिए।

उववास-वाहि-परिसम-किलेस परिपीडयं मुणेऊण ।
पत्थं सरीरजोग्गं भेसजदाणं पि दायव्वं ॥[4]

---

१. यशोविजय : ज्ञानसार मोहाष्टक १ । २. वसुनन्दि : श्रावकाचार २३३ । ३. वही, २३५ । ४. वही, २३६ ।

णासेदूण कसायं अग्गी णासदि सयं जधा पच्छा ।
णासेदूण तध णरं णिरासयो णस्सदे कोधो ॥[1]

जलानेलायक चीजोंको जिस तरह आग जलाकर खुद भी नष्ट हो जाती है, उसी तरह क्रोध मनुष्यको नष्ट करके खुद भी नष्ट हो जाता है।

ण गुणे पेच्छदि अववददि गुणे जंपदि अजंपिदव्वं च ।
रोसेण रुद्दहिदओ णारयसीलो णरो होदि ॥[2]

क्रोध आनेपर मनुष्य जिस व्यक्तिपर क्रोध करता है, उसके गुणोंकी ओर ध्यान नहीं देता। वह उसके गुणोंकी निन्दा करने लगता है। जो न कहना चाहिए सो कह डालता है। क्रोधसे मनुष्यका हृदय रुद्ररूप धारण कर लेता है। वह मनुष्य होकर भी नारकी जैसा बन जाता है।

सुट्ठु वि पियो मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण ।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ॥[3]

क्रोधके कारण मनुष्यका परम प्यारा प्रेमी भी पलभरमें उसका शत्रु बन जाता है। मनुष्यकी प्रसिद्धि भी उसके क्रोधके कारण नष्ट हो जाती है।

---

१. शिवकोटी : भगवती आराधना १३६४। २. वही, १३६६। ३. वही, १३७०।

ममताका त्याग करो

: ७ :

अहं ममेति मंत्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत् ।
अयमेव हि नञ्पूर्वः प्रतिमंत्रोऽपि मोहजित् ॥[1]

'मैं, मेरा इस मोहरूपी मंत्रने सारे संसारको अंधा बना रखा है, परंतु 'यह मेरा नहीं है'—यह वाक्य मोहको जीतनेका प्रतिमंत्र भी है।

दान देना आवश्यक

: ८ :

आहारोसह-सत्थाभयभेओ जं चउव्विहं दाणं ।
तं वुच्चइ दायव्वं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥[2]

उपासकाध्ययनमें कहा है कि चार प्रकारके दान हैं: भोजन, औषधि, शास्त्र और अभय। ये दान अवश्य देने चाहिए।

अइवुड्ढ-बाल-मूयंध बहिर-देसंतरीय-रोडाणं ।
जहजोग्गं दायव्वं करुणादाणत्ति भणिऊण ॥[3]

बहुत बूढ़ा हो, बालक हो, गूंगा हो, अंधा हो, बहरा हो, परदेशी हो, दरिद्र हो,—'यह करुणादान है' ऐसा मानकर उसे यथायोग्य दान देना चाहिए।

उववास-वाहि-परिसम-किलेस-परिपीडयं मुणेऊण ।
पत्थं सरीरजोग्गं . भेसजदाणं पि दायव्वं ॥[4]

---

१. यशोविजय : ज्ञानसार मोहाष्टक १। २. वसुनन्दि : श्रावकाचार २३३। ३. वही, २३५। ४. वही, २३६।

उपवास, बीमारी, मेहनत और क्लेशसे जो पीड़ित हो, उस आदमीको पथ्य और शरीरके योग्य औषधिदान देना चाहिए।

आगमसत्थाइं लिहाविऊण दिज्जंति जं जहाजोग्गं।
तं जाण सत्थदाणं जिणवयणज्झावणं च तहा ॥[१]

आगम शास्त्रोंको लिखाकर योग्य पात्रोंको देना और 'जिन'-वचनोंको पढ़ानेका प्रबन्ध करना शास्त्रदान है।

जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरणभयभीरुजीवाणं।
तं जाण अभयदाणं सिहामणि सव्वदाणाणं ॥[२]

मौतसे डरे हुए जीवोंकी रक्षा करना है, अभयदान। यह दान सब दानोंका शिरोमणि है।

पढमस्स लोगधम्मे परपीडावज्जणाइ ओहेणं।
गुरुदेवातिहिपूयाइ दीणदाणाइअहिगिच्च ॥[३]

धर्मशील गृहस्थोंको चाहिए कि वे दूसरे प्राणियोंको पीड़ा न पहुँचाएं, गुरु, देव और अतिथियों की पूजा करें और गरीबोंको अधिक-से-अधिक दान करें।

न वि मारिअइ न वि चोरिअइ
परदारह संगु ! निवारिअइ
थोवाह वि थोवं दाअइ,
वसणु दुगु दुगु जाइयइ।[४]

किसीको न मारो, चोरी मत करो, परस्त्रीका संग छोड़ो और थोड़ेमेंसे भी थोड़ा दान करो, जिससे दुःख जल्दी दूर हो।

---

१. वसुनन्दि:श्रावकाचार २३७। २. वही, २३८। ३. हरिभद्र: योगशतक २५। ४. सिद्धसेन दिवाकर।

पात्रे दीनादिवर्गे च दानं विधिवदिष्यते ।
पोष्यवर्गाविरोधेन न विरुद्धं स्वतश्च यत् ॥[1]

अपने आश्रयमें रहनेवाले नौकरों आदिका विरोध न करो। सुपात्र, गरीब, अनाथ आदिको विधिपूर्वक दान दो। दीन और अनाथोंके साथ अपने नौकरोंको भी दान देना चाहिए।

सबसें मेरी मैत्री हो : ६ :

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥[2]

हे देव, मैं चाहता हूँ कि यह मेरी आत्मा सदा प्राणी मात्रके प्रति मैत्रीका भाव रखे। गुणियोंको देखकर मुझे प्रसन्नता हो। दुखियोंको देखकर मेरे मनमें करुणा जगे। विपरीत वृत्ति-वालोंके प्रति मेरे मनमें उदासीनता रहे।

---

१. हरिभद्र : योगबिन्दु १२१ । २. अमितगति : सामायिक पाठ १ ।

दया धर्मका मूल है : १ :

इष्टो यथात्मनो देहः सर्वेषां प्राणिनां तथा ।
एवं ज्ञात्वा सदा कार्या दया सर्वासुधारिणाम् ॥[१]

मुझे अपना शरीर जैसा प्यारा है, उसी तरह सभी प्राणियों को अपना-अपना शरीर प्यारा है । ऐसा जानकर सभी प्राणियों-पर दया करनी चाहिए ।

एषैव हि पराकाष्ठा धर्मस्योक्ता जिनाधिपैः ।
दयारहितचित्तानां धर्मः स्वल्पोऽपि नेष्यते ॥[२]

जिनेन्द्रदेवने कहा है कि धर्मकी चरमसीमा है दया । जिन आदमियोंमें दया नहीं है, उनमें रत्तीभर भी धर्म नहीं है ।

सोऽर्थो धर्मेण यो युक्तो स धर्मो यो दयान्वितः ।
सा दया निर्मला ज्ञेया मांसं यस्यां न भुज्यते ॥[३]

धन वही है, जिसके साथ धर्म है । धर्म वही है, जिसके साथ दया है । मास न खाना ही निर्मल दया है ।

---

१. रविषेण : पद्मपुराण, १४।१८६ । २. वही, १४।१८७ । ३. वही, २६।१६१ ।

हरी घासमें भी जीव है : २ :

राजा भरत जब दिग्विजय करके लौटे, तो उन्होंने सोचा कि दूसरेके उपकारमें मेरी सम्पत्तिका उपयोग कैसे हो ? मैं महामह नामका यज्ञ कर धन वितरण करूँ। मुनि तो हम लोगोंसे धन लेते नहीं, इसलिए हमें गृहस्थोंकी पूजा करनी चाहिए; पर योग्य लोगोंको चुनकर।

राजा भरतने उत्सवका प्रबंध किया। नागरिकोंको निमंत्रण दिया और सदाचारी लोगोंकी परीक्षाके लिए घरके आंगनमें हरे-हरे अंकुर, फूल और फल खूब भरवा दिये।

जिन लोगोंने कोई व्रत नहीं लिया था, वे बिना सोचे-विचारे राजमंदिरमें घुस आये। राजाने उन्हें एक ओर हटा दिया।

कुछ लोग भीतर आये बिना वापस लौटने लगे। राजाने उनसे भीतर आनेका आग्रह किया तो प्रासुक मार्गसे, बिना जीव-वाले मार्गसे होकर राजाके पास पहुंचे। राजाने उनसे पूछा कि आप आंगनसे होकर क्यों नहीं आये ? तो उन्होंने कहा :

> प्रवालपत्रपुष्पादेः पर्वणि व्यपरोपणम् ।
> न कल्पतेऽद्य तज्जानां जन्तूनां नोऽनभिद्रुहाम् ॥
> सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु ।
> निगोता इति सार्वज्ञं देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥
> तस्मान्नास्माभिराक्रान्तमद्यत्वे त्वद्गृहाङ्गणम् ।
> कृतोपहारमार्द्रार्द्रैः फलपुष्पाङ्कुरादिभिः ॥[1]

---

१. जिनसेन : महापुराण, ३८।१७-१८।

आज पर्वका दिन है। आज न तो कोंपल, न पत्ते और न पुष्प आदिका घात किया जाता है और न उनमें रहनेवाले जीवोंका। हे देव, हमने सुना है कि हरे अंकुर आदिमें अनन्त 'निगोदिया' जीव, आँखोंसे भी न दीखनेवाले जीव

रहते हैं। इसलिए हम आपके आँगनसे होकर नहीं आये, क्योंकि उसमें शोभाके लिए जो गीले-गीले फल-फूल और अंकुर बिछाये गये हैं, उन्हें हमें रौंदना पड़ता तथा बहुत-से जीवोंकी हत्या होती।

राजा भरत पर इन वचनोंका बहुत असर हुआ। उन्होंने इन गृहस्थोंको दान, मान आदि सत्कारसे सम्मानित किया।

आज पर्वका दिन है। आज न तो कोंपल, न पत्ते और न पुष्प आदिका घात किया जाता है और न उनमें रहनेवाले जीवोंका। हे देव, हमने सुना है कि हरे अंकुर आदिमें अनन्त 'निगोदिया' जीव, आँखोंसे भी न दीखनेवाले जीव

रहते हैं। इसलिए हम आपके आँगनसे होकर नहीं आये, क्योंकि उसमें शोभाके लिए जो गीले-गीले फल-फूल और अंकुर बिछाये गये हैं, उन्हें हमें रौंदना पड़ता तथा बहुत-से जीवोंकी हत्या होती।

राजा भरत पर इन वचनोंका बहुत असर हुआ। उन्होंने इन गृहस्थोंको दान, मान आदि सत्कारसे सम्मानित किया।